



**Original Article**

**हिंदी साहित्य तथा सिनेमा में चित्रित सामाजिक समस्याएं।**

**डॉ. सूरज बाळासो चौगुले**

सहयोगी प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग

वारणा महाविद्यालय खुर्द, ता. वाळवा जि. सांगली

Manuscript ID: IJAAR-C130352

ISSN: 2347-7075

Impact Factor – 8.141

Volume - 13

Issue - 3

January – February 2026

Pp. 260 - 264

Submitted: 01 Feb. 2026

Revised: 10 Feb. 2026

Accepted: 15 Feb. 2026

Published: 28 Feb. 2026

Corresponding Author:

डॉ. सूरज बाळासो चौगुले

Quick Response Code:



Website: <https://ijaar.co.in/>



DOI: 10.5281/zenodo.22786492

DOI Link:

<https://doi.org/10.5281/zenodo.22786492>



Creative Commons



**सार:**

साहित्य का मूल उद्देश्य समाज को चित्रित करना है। समाज की अनेक समस्याओं को वाणी देने का काम साहित्य करता है। साहित्य की इसी धारा को और समृद्ध करते हुए भारतीय सिनेमा ने अपना कदम रखा है। भारतीय सिनेमा सृष्टि ने भी अपने सिनेमा की कहानी को समाज से ही लिया है। समाज की अनेक समस्याओं को वाणी देते हुए 21वीं सदी में भारतीय सिनेमा अपनी सामाजिक जिम्मेदारियां निभा रहा है। भले ही हिंदी सिनेमा मनोरंजन का साधन रहा है फिर भी 1970 के दशक से स्वतंत्रता के उपरांत स्थिति में आम आदमी समस्याओं को फिल्मों के कथ्य द्वारा वाणी देने का काम हुआ है। 21वीं सदी की अनेक समस्याएं जिस तरह से साहित्य में चित्रित हुई हैं उसी समस्या को और समृद्धता के साथ दृश्य रूप में हिंदी सिनेमा ने चित्रित किया है।

**Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)**

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International License (CC BY-NC-SA 4.0), which permits others to remix, adapt, and build upon the work non-commercially, provided that appropriate credit is given and that any new creations are licensed under identical terms.

**How to cite this article:**

डॉ. सूरज बाळासो चौगुले. (2026). हिंदी साहित्य तथा सिनेमा में चित्रित सामाजिक समस्याएं। International Journal of Advance and Applied Research, 13(3), 260 - 264. <https://doi.org/10.5281/zenodo.22786492>

**प्रस्तावना:**

साहित्य को यदि हम समाज का दर्पण कहते हैं तो सिनेमा को साहित्य का दर्पण कहना अनुचित नहीं होगा। साहित्य का ऐसा कौन सा अंग है जिसकी छवि सिनेमा में नहीं झलकती। साहित्य की सभी विधाओं से मिलकर ही तो सिनेमा

बनता है। उपन्यास का विशाल कैनवस, कहानी की कथावस्तु, नाटक का अभिनय, संवाद, काव्य की गीतात्मकता काव्यात्मकता यह सभी तत्व सिनेमा में देखे जाते हैं। साहित्य विधा के साथ-साथ कथेतर साहित्य विधा के किसी न किसी तत्व के दर्शन सिनेमा में प्राप्त होती ही है। अंतर सिर्फ इतना है



कि साहित्य लिखित विधा है तो सिनेमा दृक्श्रव्य विधा है। साहित्य पढ़कर समझा जाता है, जबकि सिनेमा देख कर समझा जाता है। इस दृष्टि से साहित्य समाज और सिनेमा एक ही शृंखला की कड़ियां हैं, जिसे हम एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। साहित्य की कथावस्तु सामाजिक समस्याओं को चित्रित करती है, वही सिनेमा भी सामाजिक समस्या का ही आयना है।

“हिंदी सिनेमा के सौ सालों की इतिहास में साहित्य का खासा योगदान हिंदी सिनेमा को मिला है, भाषा जैसे बहता नीर है वैसे ही साहित्य भी बहती सामाजिक धारा है।” प्रारंभ में पद्य फिर गद्य, काव्यात्मकता, संवादहीन अभिनय, संवाद, ध्वन्यात्मकता आदि परिवर्तन के साथ साहित्य का बदला रूप यदि सिनेमा कहा जाए तो गलत नहीं होगा। साहित्य के अलग-अलग विधाओं के तत्वों में और फिल्मों के तत्वों में काफी मात्रा में समानता दिखाई देती है। “३ मई १९१३ में दादासाहेब फाल्के जी ने राजा हरिश्चंद्र इस सिनेमा के द्वारा हिंदी सिनेमा की नींव डाली। यह फिल्म कहानी विधा का ही दृश्यात्मक रूपांतर थी। प्रारंभ में यह एक अव्यक्त चलचित्र होने के कारण बिना आवाज की यह फिल्म जिसमें संवाद नहीं थे। यही वजह है कि इसे हम कहानी साहित्य का दृश्यात्मक रूपांतर ही कह सकते थे। “प्रारंभ में कृष्ण धवल अर्थात् ब्लैक व्हाइट फिल्म, आगे चलकर रंगीन बन गई। इसमें संवाद की योजना करते हुए आवाज डाली गई और १९३१ में पहली श्रवणीय फिल्म के रूप में हिंदी जगत में “आलम आरा” यह फिल्म आयी। “२ अर्थात् संवाद तत्व इस फिल्म में पहली बार पाया गया। यहां से हिंदी सिनेमा साहित्य के साथ और अधिक गहराई से जुड़ गया। १९३१ के पहले फिल्मों में अभिनय यही तत्व प्रधान था। नायक नायिका एवं कलाकारों का सुंदर दिखाई देना और अभिनय तत्व महत्वपूर्ण माना गया। १९३१ के बाद ध्वनी,

संवाद, संवाद लेखन, गीत, नृत्य, वाक्य शब्दों के साथ सिनेमा में भाषा तत्व प्रधान बन गया।

सन १९३१ से सामाजिक समस्याएं साहित्य और हिंदी सिनेमा मानो एक धागे में पिरोई माला की तरह बन गए। “१९४० के दशक में हिंदी सिनेमा में समाज का चित्रण दो स्तरों पर होने लगा एक तो सामाजिक और दूसरा भावनिक स्तर। व्ही. शांताराम, राज कपूर, विमल राय जैसे लोगों ने सिनेमा की कथावस्तु को नया मोड़ देते हुए दर्शात्मकता को प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास किया। “३ फिल्मों की कहानी संवादों से नहीं बल्कि दृश्यों से आगे बढ़ने, लगी इस दशक में फिल्मों में और एक नया तत्व जुड़ गया वह था संगीतात्मकता। इसके पहले वह इतना प्रभावपूर्ण नहीं था। आर.डी. बर्मन, शंकर जयकिशन, मदन मोहन, ओ.पी. नैयर, सलिल चौधरी, नौशाद आदि संगीतकारों ने गीतों में संगीत के द्वारा नए तत्व जोड़ दिये और श्रोताओं के सामने गीत और संगीत का मिश्रित नजराना पेश किया। भारतीय सामाजिक समस्याओं को कुछ दर्द भरे गीतों द्वारा भी समाज के सामने प्रस्तुत किया जाने लगा।

सन १९५०-६० यह दो दशक हिंदी सिनेमा के स्वर्ण वर्ष माने गए। “इस दशक के सिनेमा में कई प्रयोग किए गए, जो तांत्रिक स्तर पर थे। लेकिन इन फिल्मों की कथावस्तु पूर्णतया समाज जीवन से प्रभावित थी। भारतीय स्वतंत्रता के बाद का भारत और भारतीय समाज जीवन को अलग-अलग दृष्टि से चित्रित किया गया। “४ ‘दो बीघा जमीन’ ‘मधुमती’ ‘मदर इंडिया’ ‘आवारा’ ‘श्री ४२०’ ‘मुगले ए आजम’ यह कुछ उस दशक की प्रातिनिधिक फिल्में थीं, लेकिन १९७० के दशक में हिंदी फिल्मों की कहानियों का रुख बदल दिया। सन १९४७ के बाद भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आ गया, लोगों ने स्वतंत्र भारत के बारे में कुछ सपने देखे थे। आझाद मुल्क हमारा होगा यह आम आदमी की



धारणा थी। मगर आम आदमी समस्याएँ जैसे की वैसी रही। उनके सपनों को निराशा में परिवर्तित हो गये। इन सभी सामाजिक, मानसिकताओं का बिंब इस दशक के सिनेमा में देखा गया। 'एंग्री यंग मैन' के रूप में हिंदी सिनेमा में अमिताभ बच्चन का प्रवेश हुआ और फिल्मों में नायक को लेकर बनी आज तक की धारणाएँ परिवर्तित हो गयी। नायक आम आदमी का प्रतिनिधित्व करने लगा, सामाजिक संघर्ष का यथार्थ चित्रण इन सिनेमा में दिखाई देने लगा। इस अर्थ में हिंदी सिनेमा समाज के यथार्थ जीवन से जुड़ गया।

सन १९८० से हिंदी फिल्मों में समाज का यथार्थ वर्णन होने लगा था। साथ ही साथ कथ्य और शिल्प के स्तर पर भी उसमें कई नए प्रयोग किए गए। “१०० सालों के सिनेमा के इतिहास में आज तक कई प्रयोग हुए हैं। वास्तव में साहित्य में किए गए अनेक प्रयोगों को ही सिनेमा कहना सही होगा।” मराठी में नाटक के प्रदर्शन को प्रयोग ही कहा जाता है। वास्तव में साहित्य के अनेक तत्वों से छेड़खानी करके ही फिल्म बनती है। साहित्य में जो कहा गया है उसे और अधिक विश्लेषित मनोरंजक और भावपूर्ण बनाने का काम सिनेमा ने किया है। साहित्य वर्णनात्मक है तो सिनेमा दृश्यात्मक है। भारतीय सामाजिक समस्या को वर्णनात्मकता से दृश्यात्मक बनाने के सफल प्रयोग का निर्वाह १९८० से लेकर आज के नई शक्ति के फिल्मों तक होता आया है।

साहित्य ने फिल्मों को क्या दिया? यह बुनियादी प्रश्न जब हम उठाते हैं तो हिंदी फिल्मों का पिछले १०० सालों का इतिहास देखे बिना हमारा काम नहीं चलता। आज साहित्य और फिल्म दो अलग-अलग क्षेत्र हैं। दोनों ने अपने आप को इतना समृद्ध किया है, कि दोनों अलग ही लगते हैं। साहित्य ने अपनी सामाजिक समस्याएँ कथ्य के रूप में फिल्म को दी हैं। अर्थात् सिनेमा की नींव साहित्य है, इस सत्य को हम नहीं

ठुकरा सकते। यह सही है कि साहित्य को और मनोरंजक और प्रभावपूर्ण बनाने में फिल्म सफल हो गई है। सिनेमा की सफलता साहित्य की असफलता नहीं है। बल्कि साहित्य में चित्रित होनेवाली सामाजिक समस्याएँ और अलग-अलग ढंग से दर्शकों तक पहुंचाने का माध्यम सिनेमा बन गया है। साहित्य की कुछ सीमाएँ जरूर हैं, इसकी पहली सीमा यह है कि साहित्य का पाठक पढ़ा लिखा होना आवश्यक है। पाठकों के पास भावात्मकता और बौद्धिकता का होना आवश्यक है। साहित्य संप्रयास पढ़ा जाता है। साहित्य पढ़कर उसे भावविश्व की कल्पना के द्वारा अपने मन मस्तिष्क में चित्र के रूप में बनाने की भावात्मक और भौतिक क्षमता उस पाठक में होने आवश्यक है। सिनेमा के दर्शक के लिए ऊपरी सभी बातें कोई विशेष महत्व नहीं रखती। सिनेमा का दर्शक अनपढ़ होने के बावजूद भी कथ्य को और तथ्य को इतनी सहजता से समझता है कि उसे किसी के समीक्षा पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। यहां दर्शकों के सामने काल्पनिक भाव विश्व नहीं बल्कि चित्रात्मक सत्य इतना स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि वह उसमें अपने आप घुल मिल जाता है।

साहित्य ने फिल्मों को तथ्य दिए साथ ही वर्णनात्मक द्वारा दृश्य अनुभूति प्रदान की। संवाद के द्वारा यथार्थ की भावाभिव्यक्ती दी। काव्य की तरलता दी, जो आगे गीत बन गए। यहां तक की साहित्य ने सिनेमा को एक ऐसा विस्तारित कैनवास प्रदान किया जिस पर आज फिल्म का सारा ढांचा खड़ा है। अभिनय और तकनीकी बातों की बात यदि छोड़ दी जाए, तो फिल्म में जो जो है वह सब साहित्य से ही लिया गया है। साहित्य पाठकों द्वारा पढ़ा जाता है लेकिन आलोचकों द्वारा साहित्य की समीक्षा की जाती है। सिनेमा के दिग्दर्शक साहित्य के एक अच्छे आलोचक होते हैं। साहित्य की एक श्रेष्ठतम आलोचना ही सिनेमा होता है। साहित्य की दृष्टि को निर्देशक



समझता है और उसी तत्वों को इस अर्थ में दृश्यात्मक रूप से प्रकट करता है। आम आलोचक साहित्यिक कृति के गुण दोष को दर्शाता है, जबकि निर्देशक दोषों को हटाकर गुणों को और अधिक विश्लेषित करता है। दूध से भले ही घी निकलता है, लेकिन बाद में जब दूध में घी में डाला जाता है, तो वह घी अपना अस्तित्व अलग से जताता है। साहित्य और फिल्म की बात भी इसी तरह से है।

साहित्य और सिनेमा के साथ जुड़ा समाज दोनों को एक कड़ी में बांधने का काम करता है। दोनों में समाज समान रूप से चित्रित होता है। समाज की पृष्ठभूमि पर ही साहित्य और फिल्म खड़ी है, अतः अंतर सिर्फ यह है कि साहित्य में समाज का चित्रण होता है जबकि सिनेमा में समाज का दर्शन होता है। दोनों शब्द और दृश्य स्तर पर अलग है समाज से अछूता रहकर न साहित्य की उपज है, न सिनेमा की बनावट है। साहित्य समाज की आलोचना है और फिल्म साहित्य की आलोचना है। इस अर्थ में दोबारा यह श्रृंखला जुड़ जाती है। हिंदी साहित्य में जिस तरह भारतीय समाज का कोना-कोना उजागर हुवा है वही बात हिंदी सिनेमा की भी है। भारतीय समाज के हर हिस्से को अपने फिल्मी ढंग में वाणी देने का प्रयास सिनेमा ने किया है। सिनेमा की दृश्यात्मकता हमारे समाज को यथार्थ रूप से चित्रित करने में सफल हुई है। सिनेमा में चित्रित समाज ऐसे होता है जैसे अपनी प्रतिमा को आईने में देखता हो। जिस समाज को हम और आप देखते हैं, उस समाज को निर्देशक सिनेमा में चित्रित करता है, अंतर सिर्फ इस बात का है कि निर्देशक हमें समाज को देखने की अलग दृष्टि देता है। सिनेमा हम अपनी आंखों से नहीं देखते बल्कि निर्देशक के कैमरा से देखते हैं। इसलिए हम अपनी दृष्टि को तीन घंटे निर्देशक की जिम्मे सौंप देते हैं। यही वजह है कि अन्य साहित्यिक विधा की तुलना में सिनेमा प्रभाव पूर्ण होता है।

साहित्य के तथ्य को समझने के लिए साहित्यकार आपके साथ होता है, लेकिन फिल्म के तथ्यों को समझने के लिए कोई साथ नहीं होता। एक बात है कि सिनेमा के कहानी का प्रस्तुतीकरण निर्देशक इस तरह से करता है कि कोई गुलिस्ता है और उसमें घूमने के लिए कोई फिसलपट्टी बनाई गई है। आप उस पर बैठते हैं, एक बार वहां से आप छुटते हैं तो फिर फिसलपट्टी रोकने की व्यवस्था हमारे हाथ नहीं होती। हमें सिर्फ उसी गति से गुलिस्ता का आनंद लेना है। फिल्म में चित्रित समस्याएँ भी हमें आनंद देती है इसकी वजह यह है कि फिसल पट्टी के साथ आगे बढ़ते हुए हमारे मन को मिलने वाला रोमांच। इस रोमांच में हम फिल्म के गद्य को आनंदपूर्ण रूप में समझते हैं और सुखद अनुभव पाते हैं। सामाजिक तथ्यों को प्रकट करने वाला निर्देशक बीच-बीच में दर्शक के सभी भावों को उत्तेजित रखना चाहता है। इसलिए वह कहानी में कभी व्यंग्य लाता है, कभी गीत लाता है, कभी रोमांस लाता है अर्थात् सभी दर्शकों की अभिरुचि को ध्यान में रखकर वह अपने सिनेमा के कथ्य को बांधता है। साहित्य में यह संभव नहीं है, लिखित तथ्य को दृश्यात्मकता में रूपांतरण करने की क्षमता हर पाठक में नहीं होती, ऐसे पाठकों के लिए फिल्म एक अच्छी व्यवस्था है जिससे उसके सामने सामाजिक तथ्यों को उजागर किया जाए।

सारांश में साहित्य समाज और सिनेमा एक दूसरे से जुड़ी हुई कड़ियों है। समाज इन दोनों विधाओं की नींव है। दोनों में समाज का ही चित्रण होता है, लेकिन दोनों के अपने प्रस्तुतीकरण के ढंग अलग-अलग है। साहित्य का सिनेमा के लिए दिया गया योगदान नकारा नहीं जा सकता लेकिन यह भी झूठलाया नहीं जा सकता कि साहित्य से भी कुछ अधिक सिनेमा ने समाज को दिया है। चाहे वह मनोरंजनात्मक स्तर हो या सामाजिक संदेश के स्तर पर हो। साहित्य के अन्य विधाओं की तरह ही अगर फिल्मों को भी यदि एक साहित्यिक विधा ही



हम मान लेते हैं, तो साहित्य समाज और सिनेमा की एक सफल श्रृंखला पूरी हो जाती है।

**संदर्भ:**

1. डॉ. सुधीर सागर, हिंदी सिनेमा में सामाजिक चित्रण, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली
2. इकबाल रिजवी, हिंदी सिनेमा और साहित्य, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली.
3. डॉ. चंद्र प्रकाश मिश्रा, मीडिया लेखन सिद्धांत और व्यवहार.
4. सिद्राम खोत, जनसंचार एवं पत्रकारिता कल और आज.
5. हंस मासिक पत्रिका, फरवरी २०१३ हिंदी सिनेमा की १०० वर्ष विशेषण के विशेषांक